

# बच्चों और फ़टलस - 2

प्रकाश कान्त

बच्चों ने सामाजिक अध्ययन पुस्तक के सारे नक्शों में तो रंग भर ही दिया, इसके अलावा अन्य चित्र भी रंग डाले। सामाजिक अध्ययन ही नहीं बल्कि हिन्दी, अँग्रेज़ी, संस्कृत जैसे विषयों की पुस्तकों के चित्र भी! उनके इस प्रयास से यह तो हुआ ही कि उनकी ब्लैक एंड व्हाइट किताबें न सिर्फ रंगीन बन गईं, बल्कि कुछ हद तक आकर्षक भी हो गईं। किताबों में यह उनकी अपनी तरह की हिस्सेदारी थी जिसके चलते वे अपनी किताबों के ज़्यादा नज़दीक पहुँच गए थे। उनके और किताबों के बीच थोड़ी-सी आत्मीयता बढ़ गई थी जो ज़ाहिर है कि सीखने-समझने में मददगार ही रही।

यह सब तो ठीक था लेकिन असल मकसद था, अपने विषय की समझ बनाना और बढ़ाना! इसके लिए मैंने बच्चों से पहले भारत और महाद्वीपों के खाके खरीदवाए। फिर उनमें विभिन्न स्थान एवं चीज़ें दर्ज करवाकर रंग भरवाना शुरू किया। लेकिन दिक्कत यह थी कि एक ही खाके में इतनी सारी चीज़ें आ नहीं सकती थीं। भारत या हर महाद्वीप के कई-कई खाकों की ज़रूरत थी। इसका आसान रास्ता देसी किस्म की ट्रेसिंग पद्धति में खोजा।

## देसी ट्रेसिंग पद्धति

असल में, ऐसी कोई पद्धति होती नहीं है! यह नाम ट्रेसिंग के इस नायाब तरीके को मैंने अपनी सुविधा के लिए दिया था। यह तरीका ट्रेसिंग पेपर की मदद से ट्रेस करने या ट्रेसिंग टेबल का इस्तेमाल करने से अलग था। और ग्रामीण बच्चों के लिहाज़ से आसान और सस्ता भी! कपास के एक फाहे या कपड़े के छोटे-से टुकड़े पर घासलेट (मिट्टी का तेल या केरोसीन) डाला और हो गया काम! फाहे या कपड़े के टुकड़े को कॉपी के कागज़ पर फेर दिया जाता। इससे कागज़ कुछ देर के लिए पारदर्शी बन जाता। उसे सम्बन्धित नक्शे या चित्र पर रखकर पेंसिल से ट्रेस कर लिया जाता। कुछ देर के बाद घासलेट उड़ जाता और ट्रेस किया हुआ नक्शा या आकृति शेष रह जाती, जिसे स्केच पेन और रंगों के ज़रिए उभार लिया जाता। यह देसी ट्रेसिंग विधि थी। इस तरीके के ज़रिए बच्चों ने बड़ी तादाद में नक्शे तैयार किए।

इस विधि का उपयोग कर बिना लाइन वाले कोरे कागज़ जोड़कर दीवार पर लटकाने के लिए बड़े साइज़ के नक्शे भी बनाने की कोशिश

की। इस तरह के नक्शे 40-50 बच्चों के साथ क्लास में बैठकर नहीं बनवाए जा सकते थे। सामग्री का जितना फैलारा होता, उसमें सभी के लिए क्लास में बैठकर बनाना मुश्किल था। सो, कुछ को क्लास में, कुछ को बरामदे में और बाकी को मैदान में बने पक्के



मंच पर बिठाकर बनवाना पड़ता। अजीब-सा दृश्य होता। सड़क से गुज़रने वाले रुककर, बनते हुए भारत, एशिया, यूरोप या अमेरिका को देखने लगते। ज़ाहिर है, यह सब 40 मिनट के एक पीरियड में सम्भव नहीं होता। ऐसे में आसपास के दो पीरियड या बीच की छुट्टी को उससे मिलाना पड़ता!

अन्ततः जैसे-तैसे भारत, एशिया या यूरोप बन जाते! उनके आसपास के सागर-महासागर भी बन जाते! कुछेक पहाड़, नदियाँ भी! हालाँकि, इनमें शुद्ध कुछ भी नहीं होता। तटों के कटाव गायब होते। नदियों के मोड़ अमूमन सरल या थोड़ी-सी घुमावदार रेखाओं में बदल चुके होते। पहाड़ ज़रूर अपनी जगह थोड़े ठीक-ठाक खड़े मिलते। शहर अपनी जगह से अपनी सुविधानुसार इधर-उधर सरके

हुए होते। सुविधा के अलावा जगह देखकर! दिल्ली मथुरा की जगह हो सकती थी और भोपाल सीहोर की जगह! शहरों द्वारा इतनी छूट लेना आम और मामूली बात थी। बाकी बारीक चीज़ों के लिए गुंजाइश नहीं होती।

बेशक, इस तरह से नक्शे बनवाना और नक्शे के ज़रिए पढ़ाना, शिक्षण के मान्य नियमों के अनुसार तो अशुद्ध और बिल्कुल ही गलत तरीका था। शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में समझाया भी जाता है कि किसी चीज़ को गलत तरह से समझाने से बेहतर है कि न समझाया जाए, क्योंकि एक बार गलत समझाने के असर से बच्चा देर तक या कभी-कभी तो उससे कभी भी उभर नहीं पाता है। शिक्षा या बाल मनोविज्ञान के हिसाब से यह बात सही थी। मैं कुछ दिन शुरू में इस

उलझन या अनिर्णय में फँसा भी रहा। वैसे घासलेट से ट्रेसिंग या कॉपी करवाने का थोड़ा-बहुत प्रयोग मैं घाट-नीचे\* के प्राथमिक स्कूल करडी में कर चुका था। वह अनुभव ज़्यादा बुरा नहीं रहा था। बच्चों को भी उसमें मज़ा आया था। वही कुछ दिमाग में खदबदा रहा था।

सामाजिक अध्ययन ही नहीं बल्कि किसी भी शिक्षण को अधिक रोचक कैसे बनाया जाए, यह हर शिक्षक के सामने एक मौजू सवाल हुआ करता है। शिक्षा-सिद्धान्त में बहुत सारी चीज़ें कही जाती हैं, ज्ञात से अज्ञात की ओर, सरल से कठिन की ओर वगैरह। पता नहीं क्यों मुझे लगा था कि गलत से सही की ओर, जैसा भी कुछ होना चाहिए! कुछ नहीं की जगह पहले गलत, और उस गलत की जगह फिर सही। हो सकता है कि मैं गलत रहा हूँ। खासकर, शिक्षा-सिद्धान्त और बाल मनोविज्ञान के हिसाब से! लेकिन मैं विषय में घुसने और बच्चों को भी घुसा ले जाने का कोई उचित-अनुचित रास्ता तलाश रहा था। दरवाज़ा, खिड़की न हो तो कोई दरार, छेद ही सही। यह सब भी न हो तो फिर संध लगाई जाए। ज़ाहिर है, यँ तो यह एक तरह का अपराध ही था। मैं एक तरह से शैक्षिक अपराध ही कर रहा था और बच्चों से भी अनजाने में करवा रहा था। लेकिन कुछ दिनों बाद मैंने पाया कि यह अपराध उतना भी बुरा

नहीं था। नक्शों के उन सारे अभ्यासों से बच्चों के दिमाग में विभिन्न द्वीप, महाद्वीप, भूखण्ड, सागर, महासागर, झील, पहाड़, नदी वगैरह की मोटी-मोटी-सी छवि और स्थिति तो अंकित हो ही गई।

## सीखने की सुन्दरता

जैसा कि पहले बात हुई, इसका पता मुझे काफी साल बाद तब चला जब कॉलेज में भूगोल पढ़ रहे पुराने छात्रों ने मिडिल की सातवीं-आठवीं कक्षा में नक्शों के किए गए उस अभ्यास से बड़ी क्लासों में होने वाले फायदों और कक्षा में अपने बेहतर प्रदर्शन के बारे में बताया था। मैंने उसका मतलब यह भी निकाला था कि उन दिनों का नक्शों का वह गलत-सलत अभ्यास शायद उतना भी निरर्थक नहीं था। बच्चों की नक्शों को लेकर थोड़ी-बहुत समझ बनाने में उसने कुछ तो मदद ज़रूर की। देसी ट्रेसिंग का यह तरीका बच्चों ने प्रश्नोत्तर और अन्य जानकारीयाँ लिखते वक्त भी इस्तेमाल किया। पहाड़, पठार, द्वीप, घाटी, खाड़ी जैसी भू-आकृतियों की परिचयात्मक टिप्पणियाँ लिखते वक्त लगभग पुस्तक में दिए गए चित्रों की तरह चित्र भी बना लिए। उन्हें रंग भी लिया। जबकि पुस्तक में दिए चित्र रंगीन नहीं, सादे थे। बेशक, इस अभ्यास से बच्चों को सीखने-समझने

---

\* घाट-नीचे मानकुण्ड, बागली ब्लॉक का आदिवासी क्षेत्र है।

का आनन्द भी आया। साथ ही, उनकी कौपियाँ खुद उन्हें भी सुन्दर दिखने लगीं। तब मैंने जाना कि सीखना-समझना सुन्दरता तक भी ले जा सकता है और इस तरह पढ़ना-पढ़ाना सुन्दर भी हो सकता है।

सवाल हो सकता है कि वह आनन्ददायक भी हो सकता है या नहीं, जैसा कि उसे होना चाहिए और जो कि वह आम तौर पर हो नहीं पाता। पहले भी नहीं हो पाता था जब शिक्षा का ढाँचा पारम्परिक था, जिसमें मानकर चला जाता था कि ज्ञान या विद्या किसी रहस्यमय जगह पर सात तालों में बन्द ऐसी अनमोल और दुर्लभ चीज़ है जो बेहद कठिन तपस्या से ही हासिल हो सकती है। पुराने ऋषि-मुनियों, तपस्वियों द्वारा कथित ज्ञान इसी तरह से हासिल करते बताया गया था जिसे 'दिव्य ज्ञान' भी कहा गया था। इस धारणा और रूढ़ हो चुके एक तरह के दुराग्रह ने चीज़ों को बहुत उलझाया और सीखने-जानने को संकटग्रस्त बनाया। इस कथित ज्ञान का अगर हमारे समाज से कोई स्वाभाविक रिश्ता नहीं बन पाया और उसकी छवि हमेशा आतंककारी ही बनी रही तो उसका एक कारण शायद यह भी था। बाद में शिक्षा का स्वरूप जब बदला तब उसकी बुनियाद में भी यह धारणा काम करती रही। आगे चलकर लगातार फैलता पाठ्यक्रम और किताबों के बढ़ते बोझ ने मोटे तौर

पर इस धारणा को जाने-अनजाने मज़बूत ही किया और सीखना मुश्किल होता चला गया।

### स्कूल: आनन्द नहीं, दबाव

यह अफसोसनाक हकीकत है कि शिक्षा को लेकर सारी बहसों, योजनाओं, कार्यक्रमों के बावजूद सीखना आनन्ददायक नहीं बन सका। पाठ्यक्रम, किताबें, परीक्षाएँ, मंथली टेस्ट, पढ़ने के तौर-तरीके, स्कूल और कक्षा का वातावरण, ये सब मिलकर सीखने को यातनादायक बनाते रहे। ज़ाहिर है, स्कूल और शिक्षक बच्चे के लिए डरावने होते चले गए। स्कूल बच्चे के लिए तेज़ी-से एक ऐसी जगह बनते चले गए जहाँ बच्चा अपनी मर्ज़ी से खुशी-खुशी नहीं



जाता था। इसलिए जाता था कि माता-पिता या पालकों द्वारा भेजा जाता था। मैंने देखा कि सरकारी स्कूलों में जो बच्चा अपने पिता या अन्य के साथ खुशी-खुशी हँसता हुआ पहली क्लास में दाखिल होने आता था, वही कुछ दिनों बाद ही स्कूल आने से बचने लगता था। उसके चेहरे की हँसी, मन की खुशी गायब हो जाती थी। वह एक बुझा हुआ बच्चा बन जाता था। सरकारी स्कूल इन बुझे हुए बच्चों के ही भण्डारगृह बनकर रह जाते थे। आज भी यही हालत है, बल्कि और बदतर ही हुई है।

प्राइवेट स्कूल इनसे ज़्यादा अलग नहीं हैं। वे सजे-सँवरे कत्लगाह हैं जिसमें बच्चों की संवेदना के साथ-साथ जिज्ञासा, उत्साह आदि भी कत्ल होते रहते हैं। वहाँ सब कुछ चमकदार होता ज़रूर है लेकिन ऐसा बिलकुल नहीं होता जो सीखने-जानने

को आनन्ददायक बना सके और स्कूल को एक खुशहाल जगह में तब्दील कर सके।

ऐसे में नक्शों का यह अभ्यास मेरे लिए एक सुखद अनुभव में बदला। बच्चों को कक्षा में, बरामदे में, मैदान के मंच पर एशिया, अफ्रीका, अमेरिका, यूरोप से 'भिड़ते' देखना एक खास अनुभव था। छोटे-छोटे समूहों में बैठे बच्चे रंग, पेंसिल, रबर, पेन आपस में लेते-देते जब अपनी बोली मालवी में चर्चा करते थे, तब वह सब सुनने लायक नायाब चीज़ हुआ करती थी।

“ए चन्दूड़ी, या मेक्सिको की खाड़ी याँ थोड़ी आयगी...। देख ये याँ ये हे...”

“गज्जू, यो कई लिख्यो, भूमध्य सागर! म्हारे कई लग्यो कि भूमध्य रेखा!”

“यो काळो सागर काळो होगो कई?”



“गेल्या, थने एशिया का कने यो मलेशिया तो बनायो ई नी...!”

“अरे, हव रे, हूँ भूली ज गयो...”

“यो कई लिख्यो हे, मेडागास्कर?”

ये और इस तरह के बहुत सारे अन्य संवाद! खाटी मालवी में! बीच-बीच में ज़रूरी पूछताछ या शिकायत के लिए मेरी पुकार।

“ओ, सर! देखो तो, या रेखा म्हारे नील नदी नी बनाने दे...या देखो, उमा ने प्रशान्त महासागर काँ लिख्यो हे!”

सर को जवाबतलबी के लिए उस समूह के पास हाज़िर होना पड़ता। तब तक दूसरे समूह की पुकार आ जाती, “ओ सर...!”

इस मामले में लड़कियों की ज़्यादा शिकायत आती। आम तौर पर कहा जाता है कि लड़के-लड़कियों की संयुक्त क्लास में लड़कियाँ या तो बिलकुल नहीं बोलतीं या बहुत कम बोलती हैं। लेकिन मेरा अनुभव एकदम फर्क रहा। सामाजिक अध्ययन की इन क्लासों में सबसे ज़्यादा लड़कियाँ बोलती थीं। अनवरत। नॉन-स्टॉप। मुझे रोकना पड़ता था उन्हें।

### देसी नक्शों के ज़रिए भूगोल

बहरहाल, नक्शों का यह देसी और बिलकुल अशुद्ध किस्म का अभ्यास भूगोल की क्लासों को थोड़ा-बहुत आनन्ददायक बनाने में सहायक रहता। और इसकी शुरुआत छठी

क्लास से सिर्फ महाद्वीपों-महासागरों का परिचय करवाने वाले नक्शों से हो जाती। ट्रेस करो। पेन फेरो। नाम लिखो। फिर रंग भरो। महाद्वीपों में कथई या भूरा, और महासागरों में नीला! बच्चे बनाते-रंगते! उन्हें एक तरह का मज़ा आता। वे अपने ही बनाए नक्शों को देखकर खुश होते। अपने किए काम से खुश होना! एक खास तरह की अनुभूति! वे अपनी कॉपी के साइज़ का नक्शा बनाकर कॉपी में चिपका लेते। बाद में, इस क्रम में आने वाले नक्शों में रेखाएँ आने लगीं। भूमध्य रेखा, कर्क रेखा, मकर रेखा! सागर आने लगे, अरब सागर, लाल सागर, काला सागर! खाड़ियाँ आने लगीं, बंगाल की खाड़ी, मेक्सिको की खाड़ी। इसी तरह से कुछ और चीज़ें भी! सिन्धु घाटी के शहर, तीन हज़ार साल पहले के छोटे जनपद, बाद के सोलह जनपद, अजातशत्रु और महापद्मनन्द का साम्राज्य वगैरह। खाली नक्शा धीरे-धीरे भरने लगा और समझ बनने लगी।

महाद्वीपों के प्राकृतिक नक्शे बनाते समय बच्चों को ज़रूर दिक्कत होती थी। इसलिए भी कि उनमें एकसाथ पहाड़-पठार, मैदान, नदी, झील सब मौजूद होते थे। उतनी बारीक चीज़ों को अपने बनाए जा रहे नक्शों में दर्ज करना, बच्चों के लिए मुश्किल होता था। एटलस के नक्शे तो इस मामले में, जैसा कि पहले उल्लेख किया,

और भी उलझनें पैदा करते थे। बच्चों के पास सबसे सस्ता वाला एटलस था जिसमें रंग इत्यादि की छपाई बहुत अस्पष्ट, अशुद्ध और अपठनीय थी। मैं खुद उन सबको देख-पढ़कर ठीक-से समझ नहीं पाता था। उनके ज़रिए बच्चों को कुछ समझाना और भी मुश्किल था। ज़्यादा महँगे एटलस खरीद पाना हर बच्चे के बस का था नहीं। रही बात कक्षा की दीवार पर टाँगे जाने वाले बड़े नक्शों की तो वे तादाद में ज़्यादा हो नहीं सकते थे। ऐसे में बारी-बारी से दिखाने से बात ज़्यादा बनती नहीं थी। सामाजिक अध्ययन की अपनी किताब में दिए गए श्वेत-श्याम नक्शे ज़रूर इस मामले में सुविधाजनक थे। उन्हें पढ़ा-समझा जा सकता था।

लेकिन इन सबमें एक चीज़ हुई। बच्चों ने नक्शे बनाने के इस अभियान में एटलस और अपनी किताब के नक्शों को खूब उलटा-पलटा। नक्शों का एक तरह से कचूमर बना दिया। लेकिन मुझे लगता था कि क्या दूसरा और कोई तरीका नहीं हो सकता था जिससे कि वे इन नक्शों से इतनी-इतनी बार इतनी-इतनी तरह से गुज़रते। वैसे नक्शों के साथ किताबों में दिए गए अभ्यास के प्रश्न इस सिलसिले में मददगार हो सकते थे। लेकिन ऐसे प्रश्नों की अपनी एक सीमा होती है। हल हो जाने के बाद उनके भीतर की सीखने-सिखाने की चमक अगर गायब नहीं तो कम

ज़रूर हो जाती थी। उत्तर जान लेना, निकाल लेना खुश तो कर देता है लेकिन सिलसिला आगे नहीं जा रहा हो तो इस खुशी को बेअसर भी कर देता है। सिलसिला बनाए रखना भी ज़रूरी है। मैं इसी कोशिश में लगा था। हालाँकि, इन कोशिशों के बावजूद बच्चे बहुत मोटी-मोटी बातें ही जान-समझ पा रहे थे, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तक के मुताबिक उनसे नक्शों के ज़रिए जितनी और जिस तरह की समझ बनने की उम्मीद की जा रही थी, उससे बात अभी काफी पीछे थी। मैं भी कुछ समझ नहीं पा रहा था।

हालाँकि, कभी-कभी यह भी लगता था कि बच्चे शायद गुणात्मक रूप से अपनी पहली कोशिश में इतना ही सीखते हैं या सीख सकते हैं। उनसे एकसाथ पूरा-का-पूरा या सबकुछ सीख-समझ लेने की उम्मीद नहीं की जा सकती! की जानी भी नहीं चाहिए! बच्चा अगर इतिहास-भूगोल भी सीखेगा-समझेगा तो यह इसी तरह से होगा। गति थोड़ी-बहुत कम-ज़्यादा हो सकती है।

बहरहाल, बच्चों ने इस तरह से महाद्वीपों और मध्य प्रदेश एवं भारत के नक्शे बनाए। मध्य प्रदेश के नक्शे में उन्हें ज़्यादा मज़ा आया। खासकर देवास, इन्दौर, भोपाल, नर्मदा, कालीसिन्ध, क्षिप्रा जैसी अपने आसपास की चीज़ों को देख-पढ़कर।

“सर, इमें अपनों मानकुण्ड काँ हे?” (सर इसमें अपना मानकुण्ड कहाँ है?) छठी क्लास की एक लड़की ने पूछ लिया। यह मेरे लिए फिर एक समस्या थी। बच्चा सबसे पहले अपने से जुड़ी चीज़ों को ढूँढता है। उसके लिए किसी भी चीज़ की प्रामाणिकता तलाश करने का यह एक बहुत साधारण-सा ज़रिया होता है। बहरहाल, उस समय उस बच्ची के चेहरे पर जिज्ञासा थी। मेरी एक तरह से परीक्षा थी। मुझे एक सही या कहेँ कि सन्तोषजनक जवाब की दरकार थी जो तत्काल नज़र नहीं आ रहा था।

गनीमत थी कि वह उस नक्शे में अपना स्कूल या घर नहीं तलाश कर रही थी।

“नानी, अपनों मानकुण्ड इना नक्शा में नी हे!” (बिटिया, अपना मानकुण्ड इस नक्शे में नहीं है।)

“काय लेने नी हे! देवास, इन्दौर, उज्जैन तो हे!” (क्यों नहीं है! देवास, इन्दौर, उज्जैन तो हैं!) फिर वैसा ही संकट! जवाब में बड़ी-छोटी जगह, नक्शों के बड़े-छोटे होने जैसे तर्क तो दे सकता था लेकिन उसके इस सवाल का मेरे पास कोई तसल्लीबक्श जवाब नहीं था कि अगर उसका गाँव देवास ज़िले और मध्य प्रदेश में है तो फिर उस नक्शे में क्यों नहीं है! उसके मामा का गाँव क्यों नहीं है! हालाँकि, मैंने उसे देवास ज़िले का नक्शा लाकर उसका और उसके मामा का

गाँव तो दिखा दिया, लेकिन उसके चेहरे पर टँगे मूल सवाल का वह एक तरह से कोई सीधा जवाब नहीं था। वह कतई सन्तुष्ट नहीं थी।

## **शिक्षण में सीमाएँ और उनके प्रभाव**

मुझे लगता है, नक्शों के ज़रिए छोटी क्लासों में इतिहास-भूगोल पढ़ाते समय हर शिक्षक के सामने यह समस्या आती है। बच्चों के पास नक्शों को लेकर हमेशा ऐसे कुछ मौलिक सवाल होते हैं जिनके सन्तोषजनक जवाब शिक्षक के पास हर बार नहीं होते। सारी कोशिशों के बावजूद! और यह इस मामले में उनकी अपनी सीमा होती है। हालाँकि, इस तरह के अनुत्तरित सवालों का आगे चलकर क्या होता है, वे कहाँ चले जाते हैं या बच्चा किस तरह की प्रक्रिया के चलते अपने-आप उन्हें लेकर सन्तुष्ट हो जाता है — यह कभी शायद ठीक-से जाँचा-परखा नहीं गया। बच्चा जाने कितने-कितने अनुत्तरित प्रश्नों को अपने साथ लिए-लिए ही बड़ा हो जाता है। पता नहीं, आगे कभी उसे उन प्रश्नों के जवाब मिल पाते हैं या नहीं, या जीवनभर उसके भीतर के किसी तहखाने में दबे रह जाते हैं!

वैसे, जहाँ नक्शों के बगैर ही इतिहास, भूगोल जैसे विषय पढ़ाए जाते होंगे वहाँ तो शायद इस तरह के सवालों पर सोचने की ज़रूरत नहीं पड़ती होगी! हालाँकि, सवाल हो



सकता है कि तब बच्चा भू-आकृति आदि की अवधारणात्मक सोच किस तरह से विकसित कर पाता होगा! छात्र नियमित हो या प्राइवेट, बिना नक्शे या डायग्राम के क्या इस तरह की सोच बनाने और विकसित करने में उसे कोई परेशानी नहीं होती होगी? या इस तरह की चिन्ता व परेशानी से वह सर्वथा मुक्त होता होगा?

यह सवाल मुझे उस दिन ज़्यादा तीखे ढंग से महसूस हुआ जिस दिन मेरी हायर सेकेंडरी की बोर्ड परीक्षा में भूगोल के पेपर में बतौर पर्यवेक्षक ड्यूटी लगी। मैं उन दिनों कुछ समय के लिए एक हायर सेकेंडरी स्कूल में काम कर रहा था। तब तक दस धन (प्लस टू) वाला मौजूदा पैटर्न लागू नहीं हुआ था। बहरहाल, उस दिन परीक्षा में एक ही परीक्षार्थी था। प्राइवेट! भूगोल के प्रश्नपत्र में नक्शा

भरने का प्रश्न भी आया था। अनिवार्य प्रश्न — विश्व का नक्शा जिसमें कुछ नदी, झील, शहर इत्यादि के अलावा हिन्द महासागर और हिमालय भी प्रदर्शित करने को कहा गया था। अपनी ड्यूटी करते हुए मेरा ध्यान गया कि उस परीक्षार्थी ने जहाँ हिमालय पर्वत अंकित किया जाना चाहिए था वहाँ हिन्द महासागर और हिन्द महासागर की जगह हिमालय अंकित किया है। ध्यान जाने पर मुझे हल्का-सा धक्का लगा। हालाँकि, पर्यवेक्षक की अपनी सीमाओं के चलते कह कुछ नहीं सकता था फिर भी यह देखना मेरे लिए परेशानी पैदा करने वाला तो था ही। क्योंकि उन दिनों हायर सेकेंडरी (ग्यारहवीं) होना शिक्षा विभाग सहित कई तृतीय श्रेणी सेवाओं की न्यूनतम प्राथमिक शैक्षणिक अहर्ता थी। बहरहाल, वह परीक्षार्थी अपने गलत-सलत नक्शे

सहित कॉपी जमा कर चला गया। आगे चलकर उसका क्या हुआ, पता नहीं! बहुत सम्भव है कि वह पास भी हो गया हो और किसी तरह शिक्षक भी बन गया हो। और कहीं इतिहास-भूगोल ही पढ़ा रहा हो। हम अन्दाज़ ही लगा सकते हैं कि वैसे में बच्चे किस तरह का इतिहास-भूगोल पढ़ रहे होंगे! यह सिर्फ एक फैंटसी या कल्पना नहीं है। ऐसा होना सम्भव है! क्योंकि ऐसा होता है।

## करते हुए सीखना

मानकुण्ड स्कूल के बच्चों ने इस तरह के नक्शे तो बनाए ही, इसके अलावा अपनी कॉपी में प्रश्नोत्तर के साथ ज़रूरी जगहों पर छोटे-छोटे चित्र और नक्शे भी बनाए। नाइजीरिया की भौगोलिक बनावट, वनस्पति, ईरान की प्राकृतिक संरचना, जापान के शहर, टुण्ड्रा प्रदेश, मेहराब, मीनार, गुम्बद के चित्र, शिकारी मानव के औज़ार-हथियार, सिन्धु घाटी में मिली विभिन्न वस्तुओं के चित्र। उन्होंने अपनी किताबों में दिए तमाम नक्शों, चित्रों, तालिकाओं के ज़रिए अलग-अलग तरह की जानकारीयाँ निकालने और तुलना करने का काफी अभ्यास किया। कक्षा में उन्हें यह सब करते देखना, एक बहुत ही खास तरह के सुखद अनुभव से गुज़रना होता था। जिसे करते हुए सीखना कहा जाता है, यह सब उसी का नमूना था। छोटे-छोटे डायग्राम,

नक्शे और चित्र बनाने, तालिकाएँ भरने, तुलनाएँ करने और यह सब करते हुए आपस में चर्चा करने, लड़ने का यह फायदा था कि उनकी उस सबको लेकर अपनी ठीक-ठाक समझ बनती लग रही थी। इसके साथ-साथ, एटलस या अन्य बड़े नक्शों में भी उनके लिए इन जगहों एवं चीज़ों को पहचान पाना थोड़ा-बहुत आसान होता महसूस हो रहा था। और एक बड़े सन्दर्भ में चीज़ों-जगहों को देखने-समझने का एक कामचलाऊ रास्ता उनके लिए कुछ-कुछ तैयार होता दिख रहा था।

जबकि वह सब शुरू करते समय खुद मुझे इसका अन्दाज़ा नहीं था। मैं तो सिर्फ बात को ज़्यादा साफ करने और समझ में आ सकने लायक बनाने के लिए वह सब कर रहा था। एक तरह से मूल चीज़ के पूरक या विस्तार के रूप में। लेकिन देख रहा था कि उनसे बच्चे कही गई बात को ज़्यादा गहरे में जाकर देख पा रहे हैं। कभी मैंने अपनी ग्यारहवीं क्लास की इतिहास-भूगोल की कॉपियों में इस तरह का काम किया था। बहुत सारे छोटे-छोटे नक्शे, तालिकाएँ, चित्र बनाने का काम। उनसे कुछ चीज़ों की प्राथमिक एवं बुनियादी समझ भी बनी थी। वही अभ्यास और अनुभव पढ़ाते समय अब शायद प्रेरणा का काम कर रहा था। कभी-कभी अपना ही किया हुआ आगे चलकर अपने लिए ही प्रेरणा का काम करने लगता है।

## समय, संसाधन व शिक्षण की ज़रूरतें

बेशक, इन सब में या यह सब करने में समय अधिक खर्च होता था। परीक्षा के बिलकुल नज़दीक आने तक पढ़ना-पढ़ाना चलता रहता था। बच्चों पर इसका शायद थोड़ा-बहुत नकारात्मक दबाव भी बनता होगा। खासकर, आठवीं बोर्ड की परीक्षा देने वाले छात्रों पर। बोर्ड की परीक्षा आम तौर पर स्थानीय परीक्षाओं से पहले मार्च में हुआ करती थी। जाहिर है कि इससे पढ़ाई के 10-15 दिन और कम हो जाते थे इसलिए परीक्षाओं को ध्यान में रखने से अन्य विषयों के कोर्स अक्सर जल्दी या वक्त पर खत्म हो जाते थे। सामाजिक अध्ययन का नहीं हो पाता था। पढ़ना-पढ़ाना चलता रहता था। इससे मैं भी थोड़ा-सा दबाव में आ जाता था। कभी-कभी लगने लगता था कि इस तरह से पढ़ाने की वजह से फैलाव कुछ ज़्यादा ही हो रहा है। शायद अनावश्यक भी।

धरातल की संरचना समझने-समझाने का एक बेहतर तरीका त्रि-आयामी नक्शे हो सकते थे, इस बारे में पहले चर्चा हो चुकी है। इन नक्शों के ज़रिए धरातल की अलग-अलग ऊँचाई, गहराई, मैदान, ढाल इत्यादि को अच्छी तरह समझा जा सकता था। सिर्फ देखकर ही नहीं बल्कि अँगुली फेरकर। ये रंगीन भी थे। ऐसे

में धरातल की ऊँचाई और रंगों का उनसे रिश्ता और ठीक-से समझने में मदद मिलती थी। समझाना ज़्यादा आसान हो जाता था। लेकिन थोड़ी-सी दिक्कत यह थी कि इन्हें दीवार पर टाँगकर नहीं देखा-समझा जा सकता। समझ गड़बड़ाती है। यूँ भी, जैसा पहले कहा था, नक्शा सही तरह से दीवार पर टाँगकर नहीं, फर्श पर रखकर ही समझा जा सकता है। त्रि-आयामी नक्शों को इस तरह से देखने पर तो बात और भी आसान हो जाती है। इस सिलसिले में मैंने पहले सेन्धवा के स्कूल में ज़मीन पर बनाए गए भारत के विशाल त्रि-आयामी नक्शे का भी ज़िक्र किया था। इसी के चलते त्रि-आयामी नक्शों की उपयोगिता को जाना था।

हालाँकि, इस तरह के नक्शे खासकर बड़े आकार के नक्शे काफी महँगे थे। इन सभी नक्शों को खरीदना एक बहुत ही छोटे स्कूल की क्षमता में नहीं था। वैसे भी, सभी महाद्वीपों, भारत और मध्य प्रदेश के प्राकृतिक एवं राजनैतिक नक्शे यानी दो-दो नक्शे और ग्लोब इत्यादि खरीदने पर स्कूल काफी कुछ पहले ही खर्च कर चुका था। अन्य ज़रूरी खर्च अभी बाकी थे। ऐसे में किताब के आकार का भारत का सबसे छोटा प्राकृतिक नक्शा खरीदकर काम चलाया गया। इस नक्शे के ज़रिए धरातल की ऊँचाई आदि के बारे में करवाए गए अभ्यास का उल्लेख पहले ही कर



चुका हूँ, जिसके ज़रिए बच्चों को धरातल की संरचना समझने में आसानी हुई। भारत के उस अकेले उभरे हुए प्राकृतिक नक्शे से कई साल तक बच्चों को धरातल की संरचना समझने-समझाने का काम लिया।

### शिक्षण के साथ-साथ सीखना भी

बच्चों के साथ काम करते-करते मेरी अपनी समझ भी थोड़ी-थोड़ी बेहतर होती चली गई। शायद यह सोचने-सिखाने की एक सहज-सामान्य प्रक्रिया है। बच्चों के साथ काम करते-करते हम भी सीखते हैं और बेहतर होते जाते हैं। मुझे लगता है कि एक शिक्षक का आजीवन सीखते रहने का सिलसिला इसी तरह से चलता है। मैं अपनी पढ़ाई के दिनों में कक्षा का एक औसत छात्र

ही रहा था। मेरी असली पढ़ाई एक तरह से मेरे शिक्षक बनने के बाद से ही शुरू हुई थी। मैं कह सकता हूँ कि जितना मुझे मेरे शिक्षकों ने सिखाया, उससे चाहे बहुत कम ही सही, मेरे छात्रों ने भी सिखाया। उनके बीच काम करते हुए मैंने सीखा। इस सामाजिक अध्ययन को पढ़ाते हुए भी यही हुआ। इस त्रि-आयामी नक्शे के ज़रिए कण्टूर (समोच्च रेखाएँ) की मुश्किल अवधारणा को समझा पाने का रास्ता निकलता था। हालाँकि, भूगोल के निर्धारित पाठ्यक्रम में इन रेखाओं पर ज़ोर नहीं था।

इस त्रि-आयामी नक्शे के ज़रिए पहाड़, पठार, मैदान की अवधारणा को समझने-समझाने में तो आसानी हुई ही, ज़मीन का ढाल समझने में भी आसानी हुई! इसकी मदद से बच्चे नदियों के बहाव के अलग-अलग

दिशाओं में होने के कारण को समझ पाए। एक-आयामी नक्शे में वे देखते थे कि नर्मदा-ताप्ती पूर्व से पश्चिम की ओर बहती हैं तो कृष्णा, कावेरी, गोदावरी पश्चिम से दक्षिण-पूर्व। सोन और नर्मदा निकलती तो एक ही जगह से हैं लेकिन नर्मदा पश्चिम की तरफ जाती है तो सोन उत्तर की तरफ। और ब्रह्मपुत्र! वह तो कई बार अपनी दिशाएँ बदलती है। पश्चिम से पूर्व। फिर उत्तर से दक्षिण। फिर पूर्व से पश्चिम। फिर थोड़ी दूर उत्तर से दक्षिण। उन्हें एक-आयामी नक्शा दिखाकर इस तरह से दिशा परिवर्तन समझाना अत्यन्त मुश्किल था। यह भी कि दक्षिण के पठार से निकलने वाली सब नदियाँ एक ही दिशा में क्यों नहीं बहती! मैंने इसके लिए मानकुण्ड स्कूल के आसपास से बहने वाले खाल (नाले) के बहने की अलग-अलग दिशा के ज़रिए बहाव की इस विविधता को समझाने की कोशिश

की थी। मानकुण्ड के आसपास से कई नाले निकलते थे। एक नाला स्कूल के पीछे से। दूसरा, गाँव में घुसते वक्त। तीसरा, स्कूल के रास्ते पर से। इन सबकी बहने की दिशा अलग-अलग थी। इससे ज़मीन के ढाल और नदी-नालों के बहने की दिशा के बीच के सम्बन्ध को समझाने में मदद तो मिली थी लेकिन बड़े स्तर पर यह समझाने में मुश्किल हुई। त्रि-आयामी नक्शे से यह काम आसानी-से हो गया था। नदी-नालों के बहाव का सिद्धान्त एक बार समझ लेने के बाद फिर अन्य महाद्वीपों में बहने वाली नदियों के बारे में भी यह समझाना आसान हो गया था। यह सब करते-समझते ही यह भी समझ में आया कि जिन बातों को पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक और शिक्षक द्वारा बहुत आसान या सहज समझा जाता है, वह सब बच्चों के स्तर पर कितना मुश्किल हो सकता है।

---

**प्रकाश कान्त:** हिन्दी से एम.ए. और रांगेय राघव के उपन्यासों पर पीएच.डी. की है। शीर्ष पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ एवं आलेख प्रकाशित। चार उपन्यास — *अब और नहीं*, *मक्तल*, *अधूरे सूर्य के सत्य*, *ये दाग-दाग उजाला*; कार्ल मार्क्स के जीवन एवं विचारों पर एक पुस्तक; तीन कहानी संग्रह — *शहर की आखिरी विड़िया*, *टोकनी भर दुनिया*, *अपने हिस्से का आकाश*, संस्मरण — *एक शहर देवास*, *कवि नईम और मैं*, और फिल्म पर एक पुस्तक — *हिंदी सिनेमा: सार्थकता की तलाश* प्रकाशित हो चुकी हैं। लगभग 30 वर्षों तक ग्रामीण शालाओं में अध्यापन।

**सभी चित्र: भाग्यश्री:** प्रकृति प्रेमी, शिक्षा कर्मी, स्वतंत्र चित्रकार और फोटोग्राफर हैं। रियाज़ अकेडमी ऑफ इलस्ट्रेटर्स, भोपाल से चित्रण का कोर्स किया है। *एकलव्य* संस्था में कुछ वर्षों तक काम करने के बाद, वे इन दिनों अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, खरगोन, मद्रास में रिसोर्स पर्सन के रूप में कार्यरत हैं। उनकी कला और काम, बच्चों की कल्पनाओं से प्रेरित हैं और ज़मीन से जुड़ी कहानियाँ कहने की कोशिश करते हैं।

यह लेख *एकलव्य* द्वारा प्रकाशित पुस्तक *सामाजिक अध्ययन नवाचार* से साभार।